



दलित एवं आदिवासी- विमर्श

आदिवासियों की संघर्षगाथा और हिंदी कविता

• कृष्ण कुमार मिश्र

भारत एक संप्रभुता संपन्न अखंड राष्ट्र बनने की राह पर अग्रसर है। प्राचीन काल से ही इसकी संस्कृति और कला का बखान होता रहा है। यह एक विशालतम गणराज्य होने के साथ-साथ अनेक प्रकार की जातियों और धर्मों का सम्मिश्रण है। प्राचीन समय से ही यहाँ पर समाज में अनेक समुदाय और भिन्न-भिन्न कोटि व वर्ण के लोग रहते आए हैं। पुराने समय में इन मनुष्यों का अपना एक निर्धारित कार्य और आजीविका थी जिसके माध्यम से ये अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करते थे। भिन्न-भिन्न कार्य और कारण के आधार पर धीरे-धीरे इनको एक जाति विशेष के नाम से जाना जाने लगा। वर्तमान समय में ये जातियां इस परंपरा से ऊपर उठ चुकी हैं अब वे कोई भी कार्य करने के लिए स्वतंत्र हैं। इन सब जातियों से बहुत दूर जंगल में रहने वाले मनुष्यों का भी एक समूह था जिनका अपना अलग समाज और स्वतंत्रता थी। ऐसी जातियों को कालांतर में 'आदिवासी' नाम से चिन्हित किया गया। बीसवीं सदी के अंत में जनसंख्या वृद्धि के कारण भूमंडलीकरण का दौर आया और जंगल पहाड़ को काटकर या नष्ट कर वहाँ पर उद्योगधंधों को विकसित किया जाने लगा जिसका प्रभाव आदिवासियों पर सबसे अधिक पड़ा। उनकी स्वतंत्रता और जीविका पर बंधन लगने लगा जिसकी वजह से ये प्रकाश में आए। इसके पहले न जाने कितने आदिवासी जंगलों पहाड़ों की कन्दराओं और वृक्षों के नीचे सोकर अपना जीवन व्यतीत करते थे। प्रकृति से ही उनके पेट पालने की सामग्री आसानी से प्राप्त हो जाया करती थी परंतु आज भूमंडलीकरण के कारण उनके अस्तित्व पर खतरा मंडरा रहा है। इसी खतरे को हिंदी और अन्य भाषाओं के कवियों और चिंतकों द्वारा प्रमुखता से साहित्य के माध्यम से पढ़े-लिखे समाज और सरकार तक इनकी कठिनाइयों और तकलीफों को पहुंचाने का प्रयास किया जा रहा है।

समकालीन हिंदी कविता और वर्तमान समाज में नित नए-नए विमर्शों और विचारों का अंकुरण हो रहा है। छोटी-छोटी समस्याओं पर एक समूह बनाकर चर्चा और परिचर्चा हो रही है। इन समस्याओं के प्रत्येक पहलू को बहुत बारीकी से देखा और परखा जा रहा है। जिस साहित्य में छोटी-छोटी बातों पर ध्यान दिया जाने लगे वहाँ परिवर्तन होना निश्चित है। जब छोटी समस्याओं पर विचार विमर्श होने लगे तो आदिवासी विमर्श जैसी बड़ी समस्या को नज़रअंदाज़ करना मुश्किल है। सत्तर अस्सी के दशक से हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं में विमर्शात्मक लेखन में एकाएक वृद्धि



हुई है। इस वृद्धि का सबसे बड़ा कारण भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण है। पल-प्रतिपल हो रहे परिवर्तनों ने मुख्य धारा और हाशिए का समाज, दोनों को बड़ी तीव्र गति से जन सामान्य के समक्ष साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। दोनों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और साहित्यिक पक्षों को उजागर करने की समान चेष्टा की है।

विमर्शों के शुरुआती दौर पर दृष्टिपात करें तो आदिवासी विमर्श, चर्चित विमर्शों में भी हाशिए पर दिखाई पड़ता है। स्त्री विमर्श और दलित विमर्श, ये दो ऐसे बड़े विमर्श हैं जिनपर साहित्यिक और सामाजिक, दोनों क्षेत्रों में लगातार विचार-विमर्श और संगोष्ठियों का दौर चल रहा है परंतु आदिवासियों की तरफ किसी का ध्यान नहीं जा रहा है। आदिवासी कौन हैं? वे कहाँ से आए हैं? इस प्रश्न पर विचार करें तो आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की ये पंक्तियाँ सहज ही मन के किसी कोने में जीवंत हो उठती हैं कि “भारत में रहने वाली प्रत्येक जातियाँ अपने से नीचे एक और जाति ढूँढ़ ही लेती हैं।” द्विवेदी जी के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आदिवासी समुदाय और कोई नहीं हमारे समाज की जातिव्यवस्था की उपज हैं। इस संबंध में डॉ. विनायक तुमराम ने ‘हाशिये की वैचारिकी’ नामक पुस्तक में लिखा है कि “वर्तमान स्थिति में ‘आदिवासी’ शब्द का प्रयोग विशिष्ट पर्यावरण में रहने वाले, विशिष्ट भाषा बोलने वाले, विशिष्ट जीवन पद्धति तथा परंपराओं से सजे और सदियों से जंगल-पहाड़ों में जीवन-यापन करते हुए अपने धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को संभाल कर रखने वाले मानव-समूह का परिचय करा देने के लिए किया जाता है और बहुत बड़े पैमाने पर उनके सामाजिक दुःख तथा नष्ट हुए संसार पर दुःख प्रगट किया जाता है। उनके प्रश्नों तथा समस्याओं पर जी तोड़कर बोला जाता है।” (पृ. 251)

यदि गंभीरता से देखा जाए तो दलितों और आदिवासियों के जीवन में बहुत अंतर नहीं दिखाई पड़ता है। दोनों के जन-जीवन से जुड़ी समस्याएं और कठिनाइयाँ लगभग समान हैं। फिर दलित विमर्श की अपेक्षा आदिवासी विमर्श हाशिए पर क्यों है? इसका सबसे बड़ा कारण मुझे यह लगता है कि दलित तो फिर भी समाज के सम्मुख पाए जाते हैं परंतु आदिवासी जंगल की धूल फांकते हुए पाए जाते हैं जहां पर समाज के उच्च और सामान्य लोगों की दृष्टि पहुँच ही नहीं पाती है। रही बात साहित्यकारों की तो ये भी उनके सुदूर जंगल में रहने की वजह से उन तक पहुँच ही नहीं पाते हैं। वे उनके काँटों भरे मार्ग और भूखे पेट की वास्तविकता से कोसों दूर हो जाते हैं। इसीलिए आदिवासी साहित्य में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति को अधिक प्रमुखता दी जाती है।

हिंदी साहित्य की अनेक विधाओं में काव्य एक बहुत प्राचीन और लोकप्रिय विधा के रूप में हमारे सम्मुख निरंतर प्रवाहमान है। ऐसा कहा गया है कि काव्य का सृजन अनायास ही हो जाता है उसके सृजन में किसी अतिरिक्त प्रयास की जरूरत नहीं होती है। उसका संबंध साक्षरता और निरक्षरता से भी परे है चूंकि हिंदी साहित्य में इस बात को प्रमाणित करने के लिए कबीरदास और रैदास जैसे सैकड़ों कवि मिल जाएंगे जिनकी काव्य साधना में शब्द ज्ञान कभी



बाधक नहीं हुआ फिर भी उनकी काव्यसाधना श्रेष्ठ है। दलित विमर्श और स्त्री विमर्श को दृष्टिगत रखते हुए विपुल साहित्य रचा जा रहा है। इन्हीं विमर्शों की देखा-देखी हिंदी कवियों ने आदिवासी विमर्श से संबंधित कविताओं की रचना प्रारंभ कर दी है। जिनकी कविताओं का स्वर आदिवासियों से जुड़ी समस्याओं की तरफ स्पष्ट संकेत करता है। समय के बदलाव के साथ आदिवासियों की चेतना में परिवर्तन देखने को मिल रहा है और वे अपनी बात को साहित्य की प्रमुख विधाओं के रूप में समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं। अभी तक यह प्रमुखता से देखा जा रहा है कि आदिवासी विमर्श से संबंधित रचनाएं आदिवासी कवियों व लेखकों के द्वारा ही लिखी जा रही हैं। अन्य वर्गों के साहित्यकारों की भागीदारी इसमें न के बराबर है। यह भयावह स्थिति है परंतु एक बात और है कि जिस व्यक्ति, समाज व जाति को खुद से चलना या संभलना आ जाय फिर उनके उत्थान व उनके अधिकारों का हनन कोई नहीं कर पाएगा।

आदिवासी कविता एक जातिचेतना की कविता है जहां एक तरफ अपनी पीड़ा स्वयं कहती है और उसका समाधान भी स्वयं ढूंढती है वहीं दूसरी तरफ अपनी संस्कृति, साहित्य और अपने संसाधनों के लिए तीव्र प्रतिरोध दर्ज कराती है। वर्तमान समय में आदिवासी साहित्य लगभग सौ भाषाओं में सृजित हो रहा है। यह इस बात का प्रमाण है कि आदिवासियों में स्वयं के साहित्य और संस्कृति के प्रति जो जिजीविषा है वह सराहनीय है। बस जरूरत है तो उसे निखारने की। आज आदिवासियों में नई चेतना का संचार हो रहा है। नित नए-नए विचार और क्रांतियों से उनका परिचय हो रहा है। उनमें इतनी स्फूर्ति आ गई है कि वे नई और पुरानी स्थितियों व परिस्थितियों का आकलन स्वयं कर रहे हैं उनकी यही चेतना उनके काव्य में दिखाई दे रही है। आदिवासी आवाज को वे स्वयं अपनी कविता के माध्यम से समाज और साहित्य के समक्ष बुलंदी से रख रहे हैं। उनकी इसी उभरती चेतना का विशिष्ट उदाहरण वाहरू सोनवणे की 'स्टेज' नामक कविता में देखा जा सकता है-

हम स्टेज पर गए ही नहीं

जो हमारे नाम पर बनाई गई थी

हमें बुलाया भी नहीं गया

ऊंगली के इशारे से

हमारी जगह हमें दिखा दी गई

हम वहीं बैठ गए

हमें खूब शाबासी मिली





और 'वे' स्टेज पर खड़े होकर

हमारा दुख हमें ही बताते रहे

“हमारा दुख अपना ही रहा

जो कभी उनका हुआ नहीं।”

यह कविता आदिवासी विमर्श और आदिवासी साहित्य की चेतना को परिभाषित करती है और अपनी उपयोगिता को स्वयं सिद्ध करती है। वर्तमान समय में आदिवासी स्वर को प्रमुखता से मुखरित करने में आदिवासी लेखिका और कवयित्री रमणिका गुप्ता का प्रमुख हाथ है। वे लगातार आदिवासियों के उत्थान के लिए काव्य और अन्य विधाओं के द्वारा साहित्य जगत और समाज को उनकी कठिनाइयों से रूबरू करवा रही हैं। इनके अलावा अन्य प्रमुख हिंदी आदिवासी रचनाकारों में ग्रेस कुजूर, हरिराम मीणा, शंकरलाल मीणा, सरिता सिंह, डॉ. राम दयाल मुंडा, महादेव टोप्पो, लक्ष्मण सिंह, हजारी लाल मीणा 'राही', मोतीलाल, भुवनलाल, सहदेव सोरी आदि का नाम लिया जाता है।

आदिवासी कविताओं में अन्य भाषाओं की अनूदित कविताओं का बहुत महत्त्व है। अनेक बोलियों और भाषाओं की आदिवासी कविताओं का अनुवाद हिंदी भाषा में किया जा रहा है। संथाली भाषा की बहुत ही प्रखर और चर्चित कवयित्री निर्मला पुतल की कविताओं ने हिंदी कविता को बहुत बड़े स्तर पर प्रभावित और प्रेरित किया है। इनके अलावा उड़िया के हाड़िबंधु मिर्धा, कोंकणी के पोब्र फेर्नांडीस, देहवाली (गुजराती) के चामूकाल राठवा, मलयालम के राघवन अंतोली आदि की अनुवादित रचनाएं बहुत प्रसिद्ध हैं। सामाजिक जातिव्यवस्था में आदिवासी होना किसी जघन्य पाप से कम नहीं है क्योंकि उन्हें सबसे नीच और अधम समझा जाता रहा है। जहां किसी जाति की ऐसी स्थिति है वहां पर उनकी स्त्रियों की क्या दशा-दिशा होगी यह सहज ही समझा जा सकता है। इस संबंध में निर्मला पुतल की कविता 'ये वे लोग हैं जो...' नामक कविता का कुछ अंश देखा जा सकता है-

ये वे लोग हैं जो मुझे देख

नाक-भौं सिकोड़ते हैं

और गोरी चमड़ी से ढके चलते हैं

अपना कालापन





ये वे लोग हैं जो दिन के उजाले में

मिलने से कतराते हैं

और रात के अंधेरे में

मिलने का मांगते हैं आमंत्रण।

‘आदिवासी’ शब्द, समाज व जाति को परिभाषित करती हुई एक और कविता ‘आदिवासी’ इस संबंध में श्रेष्ठ उदाहरण है। चामूकाल राठवा लिखते हैं कि-

आदिवासी

इस शब्द को वे

इस तरह बोलते हैं

जैसे यह किसी

महामारी का नाम हो

अब तो हर बड़े रोग की

दवा मिलती है

इस शब्द को सुनकर

वे ऐसे देखते हैं

जैसे उन्होंने

आकाश में उड़ती

रकाबी देख ली हो।





आदिवासी कविता की मार्मिकता का बहुत मार्मिक चित्रण 'आदिवासी' कविता में प्रस्तुत किया गया है। वास्तव में आज भी आदिवासी शब्द सुनकर एक बार सामान्य लोगों का चौंकना जारी है। आदिवासी कविता में काव्य के सभी गुण-अवगुण और सौंदर्य विद्यमान है। आदिवासी कवियों ने केवल अपने अधिकार या अपनी उपेक्षा से जुड़ी हुई बातों को अपनी कविता में नहीं उतारा है बल्कि प्रेम, सौंदर्य और प्रकृति की उपस्थिति को भी प्रमुखता दी है। शंकरलाल मीणा की एक कविता 'परदेसी सौदागर' इस बात की गवाही स्वयं ही दे देती है। जिसमें सौंदर्य के प्रति अपनी जिज्ञासा को कविता के रूप में जीवंतता प्रदान की गई है-

हम जैसे फटीचरों में
विश्व-सुन्दरी ही नहीं
ब्रह्मांड-सुंदरी भी हो सकती है
सौदागर से पहले
इसका एहसास कहां था हमें?
अब तो हमारी
एकमात्र चिन्ता-सौन्दर्य
एकमात्र चिन्तन-सौन्दर्या

इस कविता के द्वारा यह ज्ञात होता है कि आदिवासियों के कबीलों में आज भी सौंदर्य से परिपूर्ण औरतें और नवयौवना हुआ करती हैं। ऐसा लगता है कि संस्कृत के विद्वान बाणभट्ट की लोकप्रिय कृति 'कादम्बरी' में चांडाल कन्या के रूप-वर्णन का आधार यही वर्ग है जिसमें एक पात्र के मुंह से सहज ही यह वाक्य निकल पड़ता है कि 'भगवान को यदि सौंदर्य देना था तो इसे किसी उच्च कुल में पैदा किया होता।' यह वाक्य आदिवासी समाज के सौंदर्य का एक जीवंत उदाहरण है। सपने देखना प्रत्येक व्यक्ति का अपना अधिकार है। बचपन से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति जो खुली आँखों से सोचता है विचार करता है भविष्य को लेकर, वो सब सपने के अंतर्गत ही आता है। सपने छोटे और बड़े दोनों तरह के हो सकते हैं मनुष्य अपनी स्थिति के अनुसार सपने बुनता है। एक आदिवासी भी अपनी हैसियत के हिसाब से अपने सपने का ताना-बाना बुनता है। जो सरिता सिंह बडाईक की कविता के माध्यम से सहज ही देखा जा सकता है-





मेरा जीवन

नन्हें सपनों का मोहताज है

नन्हें सपनों की बदौलत

मेरी अस्मिता है आज

ये नन्हा सच

सिर्फ मेरा है

जो मेरे 'गर्भ' में है

मेरा कल इसी पर निहित है

मेरे अरमान

इसी से सुसज्जित हैं।

हिंदी साहित्य में आदिवासी कविता दिन पर दिन अपना पैर मजबूती के साथ जमा रही है। जहाँ तक स्वानुभूति और सहानुभूति परक कविताई का प्रश्न है वो एक हद तक जायज ही दिखाई पड़ता है। एक लोकोक्ति है 'जा के पैर न फटी बेवाई सो का जाने पीर पराई' यह उक्ति आदिवासी साहित्य में बिल्कुल यथार्थ है। निश्चित रूप से स्वानुभूति, सहानुभूति से ऊपर होगी। जो दर्द, जो तकलीफ स्वयं से सहा गया होगा उसकी अभिव्यक्ति ज्यादा मार्मिक होगी। यह जो मार्मिक वेदना है वह केवल स्वयं तक सीमित नहीं है। आदिवासी कवि ने अपने आस-पास के वन प्रांत और जंगलों को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। ऐसी ही एक कविता महादेव टोप्पो की 'जंगल का कवि' है, जिसमें कवि के उद्गार जंगल की हरियाली और उसके विनाश की तरफ इशारा करते हैं-

जब जंगल की

सारी विद्रोही आवाजों को

जंगल के पेड़ों के हरेपन को





हरे-भरे होकर सीना तान

पहाड़ों पर घाटियों में

उगने लहराने की

उनकी आकांक्षा को

महुए की बोटल में

डुबोने की हो साजिश

इस जंगल का कवि

रहेगा भला कैसे चुप?

इस कविता में व्यंजना शब्द-शक्ति का अद्भुत समाहार दिखाई पड़ रहा है। यह ऐसी कविता है जो आदिवासी जीवन और आदिवासी परिवेश, दोनों का एक साथ प्रतिनिधित्व करती है। यह कविता आदिवासियों के निवास स्थान जंगल व पूरे प्राकृतिक परिवेश को एक साथ हमारे सामने प्रस्तुत करती है।

आदिवासी जीवन का संघर्ष, हिंदी कविता का धीरे-धीरे ही सही परंतु एक प्रमुख अंग बनता जा रहा है। उनकी समस्याओं और उनकी कठिनाइयों को हिंदी कवि और कुछ आदिवासी कवि प्रमुखता से अपनी काव्यकृतियों और अन्य विधा की रचनाओं का विषय बना रहे हैं। साहित्य में रुचि रखने वाले पाठक, आदिवासियों के जीवन और उनसे जुड़े हुए संघर्ष को जानने के क्रम में आदिवासी कविता और अन्य विधाओं का अध्ययन कर रहे हैं और अपने विचारों को अभिव्यक्त कर रहे हैं। यह सोच आदिवासी जीवन और आदिवासी कविता दोनों को किसी न किसी रूप में निश्चित तौर पर मजबूती प्रदान करेगी। आदिवासी जीवन के विषय में सबसे सुखद बात यह है कि उनका संघर्ष भारत के कोने-कोने में रहने वाले आमजन और सरकार तक साहित्य के माध्यम से पहुंचाई जा रही है। इनके संघर्ष को सभी भाषाओं और कलाओं में प्रमुखता के साथ उद्धृत किया जा रहा है। वर्तमान समय में आदिवासी जीवन और उनकी संस्कृति तथा साहित्य को बहुत गंभीरता से देखा, सुना और पढ़ा जा रहा है जो उनके विकास का द्योतक है। आज हर पढ़ा लिखा इंसान यह चाहता है कि आदिवासियों को मुख्य धारा में स्थान प्राप्त हो तथा समाज की सभी सुख-सुविधाओं का लाभ उनको भी आसानी से प्राप्त हो सके चूंकि सभी जाति और धर्म से ऊपर मनुष्यता का जातिधर्म है, सभी मनुष्य एक समान हैं।



सहायक-पुस्तकें-

- 1- आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, सं. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- 2- हाशिये की वैचारिकी, सं. उमाशंकर चौधरी, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 2008
- 3- आदिवासी भारत, योगेश अटल और यतीन्द्रसिंह सिसोदिया, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर, 2011
- 4- आदिवासी समाज और आधुनिकता, डॉ. पूरणमल यादव व नटवर लाल बुनकर, आविष्कार पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर्स, जयपुर, 2008
- 5- आदिवासी साहित्य यात्रा, सं. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
- 6- वाङ्मय (प.), आदिवासी विशेषांक-2, सं. डॉ. एम. फ़ीरोज़ अहमद, अलीगढ़, अक्टूबर 2013-मार्च 2014
- 7- आजकल (प.), सं. फरहत परवीन, अंक-12, अप्रैल 2016, नई दिल्ली
- 8- हंस (प.), सं. संजय सहाय, अंक-2, सितंबर 2016, नई दिल्ली
- 9- समयांतर (प.), सं. पंकज बिष्ट, अंक-1, अक्टूबर 2016, दिल्ली
- 10- लमही (प.), सं. ऋत्विक् राय, अंक-1, जुलाई-सितंबर 2015, लखनऊ
- 11- कर्तव्य चक्र (प.), सं. डॉ. मनीष जैन, अंक-4, जुलाई-सितंबर 2015, शामली, उ. प्र.

• कृष्ण कुमार मिश्र (शोध-छात्र)
हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा, महाराष्ट्र
मो. 09450315515, 08668552180
ई-मेल : kkmishrahindi@gmail.com